IJRAR.ORG E-ISSN: 2348-1269, P-ISSN: 2349-5138

INTERNATIONAL JOURNAL OF RESEARCH AND ANALYTICAL REVIEWS (IJRAR) | IJRAR.ORG

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

नाटक लक्षणरत्नकोश और नाटकचन्द्रिका में रस-सिद्धान्त : समानता, भिन्नता एवं व्यावहारिक प्रयोग

लेखक (शोधकर्ता)
लाली कुमारी
◆ संबद्धता
विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग
तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर – 812007 (बिहार)

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र 'नाटक लक्षणरत्नकोश' तथा 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस को नाट्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत किया गया है, जिसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष का निरूपण विविध आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया गया है। इस संदर्भ में उक्त दोनों ग्रन्थ नाट्य-परम्परा के महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य इन ग्रन्थों में वर्णित रस-तत्त्व, उसके अवयवों—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव—की व्याख्या तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का तुलनात्मक परीक्षण करना है। साथ ही, यह शोध यह भी स्पष्ट करता है कि दोनों ग्रन्थों में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया किस प्रकार व्याख्यायित की गई है तथा उनके दृष्टिकोण में कहाँ साम्य और कहाँ भिन्नता विद्यमान है। तुलनात्मक आधार के रूप में रस की परिभाषा, स्थायीभाव का स्वरूप, रस-संख्या, तथा नाट्य-प्रयोग में रस की अभिव्यक्ति को ग्रहण किया गया है।

व्यावहारिक पक्ष के अंतर्गत यह विवेचना की गई है कि इन सिद्धान्तों का नाट्य-अभिनय, प्रस्तुति तथा दर्शकानुभूति पर क्या प्रभाव पड़ता है। अध्ययन से यह संकेत प्राप्त होता है कि यद्यपि दोनों ग्रन्थों में रस-सिद्धान्त की मूल अवधारणा समान है, तथापि उनके व्याख्यान-प्रकार, तात्त्विक बल तथा प्रयोगात्मक दृष्टिकोण में स्पष्ट भिन्नताएँ विद्यमान हैं। इस प्रकार, यह शोध नाट्यशास्त्रीय परम्परा में रस-सिद्धान्त की विविधता एवं उसकी प्रासंगिकता को उद्घाटित करता है।

1. प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में 'रस' को काव्य एवं नाट्य का प्राणतत्त्व माना गया है। भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति सूत्र के माध्यम से रस-सिद्धान्त को जिस प्रकार व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हुआ, उसने सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा को एक स्थायी सौन्दर्यदृष्टि प्रदान की [1]। रस केवल भावनात्मक अनुभूति का नाम नहीं, अपितु वह सहृदय के अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट आनन्दानुभूति है, जो स्थायीभावों के परिपाक से सम्पन्न होती है। आचार्य अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, मम्मट आदि ने इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन कर इसे भारतीय काव्यचिन्तन की केन्द्रीय धुरी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार रस-सिद्धान्त न केवल सैद्धान्तिक स्तर पर, बल्कि काव्य एवं नाट्य के मूल्यांकन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानदण्ड सिद्ध हुआ है।

नाट्यपरम्परा में रस का स्थान और भी अधिक केन्द्रीय एवं अनिवार्य है। नाटक मूलतः दृश्य-काव्य है, जहाँ शब्द, अभिनय, संगीत तथा आङ्गिक-व्यापार के समन्वय से एक समग्र कलानुभूति का सृजन होता है। इस समग्रता का परम उद्देश्य दर्शक में रसोत्पत्ति करना ही है। यदि नाट्य में रस की निष्पत्ति नहीं होती, तो उसकी समस्त संरचना निरर्थक प्रतीत होती है। अतः नाट्यशास्त्रीय चिन्तन में रस को 'नाट्यात्मा' के रूप में अभिहित किया गया है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के सुयोग्य समन्वय द्वारा स्थायीभावों का उत्कर्ष ही रस का रूप ग्रहण करता है, और यही प्रक्रिया अभिनय एवं प्रस्तुति के माध्यम से सहृदय दर्शक के अन्तःकरण में आनन्दमय अनुभूति का संचार करती है। इस दृष्टि से रस-सिद्धान्त केवल एक सैद्धान्तिक अवधारणा न होकर नाट्य-प्रयोग की आत्मा एवं उसका अन्तिम लक्ष्य है [2]।

भारतीय नाट्यपरम्परा में विभिन्न आचार्यों एवं ग्रन्थकारों ने रस-सिद्धान्त का निरूपण अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। इस सन्दर्भ में 'नाटक लक्षणरत्नकोश' तथा 'नाटकचन्द्रिका' जैसे ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखते हैं, क्योंकि ये नाट्यशास्त्रीय परम्परा के उत्तरवर्ती चरणों का प्रतिनिधित्व करते हुए रस के तत्त्व, उसकी संरचना एवं प्रयोगात्मक पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में नाट्य के लक्षणों के साथ-साथ रस के तात्त्विक आधारों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निरूपण मिलता है, जहाँ रस की निष्पत्ति, उसके अवयव तथा नाट्य में उसकी अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया है। दूसरी ओर 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त का अधिक व्यवस्थित एवं व्याख्यात्मक स्वरूप प्राप्त होता है, जिसमें रस के प्रकार, उनके भेद, तथा अभिनय-प्रक्रिया में उनके प्रयोग का तुलनात्मक रूप से विस्तृत विवेचन किया गया है।

इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है कि यद्यपि दोनों का आधारभूत सिद्धान्त समान है, तथापि उनकी प्रस्तुति, व्याख्या-शैली तथा तात्त्विक बल में सूक्ष्म भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर जहाँ 'नाटक लक्षणरत्नकोश' अधिक संक्षिप्त एवं सूत्रात्मक शैली में रस का निरूपण करता है, वहीं 'नाटकचन्द्रिका' में उसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण एवं व्याख्या प्राप्त होती है। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि नाट्यपरम्परा में रस-सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ तथा विभिन्न आचार्यों ने उसे किन-किन आयामों में प्रतिपादित किया [3]।

तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसके माध्यम से रस-सिद्धान्त के व्यावहारिक आयामों का भी उद्घाटन सम्भव होता है। नाट्य केवल सैद्धान्तिक चिन्तन का विषय नहीं है, अपितु वह मंचीय प्रस्तुति, अभिनय-कौशल तथा दर्शकानुभूति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। अतः यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त नाट्य-अभिनय एवं प्रस्तुति में किस प्रकार कार्यान्वित होते हैं। इस सन्दर्भ में विभावों का चयन, अनुभावों की अभिव्यक्ति तथा संचारी भावों का समुचित संयोजन नाट्य-प्रयोग की सफलता के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं, जिनका विवेचन इन ग्रन्थों में विभिन्न स्तरों पर किया गया है।

अतः प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है, जिससे इन ग्रन्थों में निहित सैद्धान्तिक समानताओं एवं भिन्नताओं का उद्घाटन हो सके, साथ ही उनके व्यावहारिक प्रयोग की प्रासंगिकता भी स्पष्ट हो। यह अध्ययन न केवल नाट्यशास्त्रीय परम्परा के विकास को समझने में सहायक होगा, बल्कि आधुनिक नाट्य-प्रयोग एवं प्रस्तुति के लिए भी एक सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान करेगा।

2. शोध की पृष्ठभूमि एवं उद्देश्य

भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा का विकास अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध रहा है, जिसका मूलाधार भरतमुनि का *नाट्यशास्त्र* है। यह ग्रन्थ न केवल नाट्य-कला का प्रथम व्यवस्थित शास्त्रीय प्रतिपादन प्रस्तुत करता है, अपितु काव्य एवं नाट्य के सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी मूल स्रोत है। नाट्यशास्त्र में नाट्य के विविध अंग—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय—के साथ-साथ रस-सिद्धान्त को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया गया है। भरतमुनि के अनुसार नाट्य का परम प्रयोजन दर्शक में आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करना है, जो रस के माध्यम से ही सम्भव होता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही भारतीय नाट्यपरम्परा में रस को नाट्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया, जिसने सम्पूर्ण नाट्य-विचारधारा को एक सुसंगत दिशा प्रदान की [4]।

रस की अवधारणा का विकास भारतीय काव्यशास्त्र में क्रमशः अनेक आचार्यों के चिन्तन द्वारा सम्पन्न हुआ। भरतमुनि के मूल प्रतिपादन के पश्चात् आचार्य भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। भट्टलोल्लट ने रस को नायकादि में स्थित स्थायीभाव का विकास माना, जबकि शङ्कुक ने इसे अनुकरण के आधार पर उत्पन्न होने वाली अनुभूति के रूप में व्याख्यायित किया। भट्टनायक ने 'भावकतावाद' के माध्यम से रस को सामान्यीकरण (साधारणीकरण) की प्रक्रिया से उत्पन्न अलौकिक आनन्द के रूप में निरूपित किया। इस विकासक्रम का परिपाक आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में हुआ, जहाँ रस को सहृदय के अन्तःकरण में स्थित स्थायीभावों की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। अभिनवगुप्त ने रसास्वादन को ब्रह्मानन्द-सहोदर अनुभूति बताते हुए उसे एक विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव के स्तर तक उन्नत किया [5]।

उत्तरवर्ती आचार्यों—जैसे मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ—ने भी रस-सिद्धान्त का विस्तार करते हुए उसे काव्य-मूल्यांकन का प्रमुख आधार बनाया। मम्मट ने *काव्यप्रकाश* में रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए उसके अवयवों का सुव्यवस्थित निरूपण किया, जबकि विश्वनाथ ने *साहित्यदर्पण* में रस-प्रधान काव्य की संकल्पना को स्पष्ट किया। इस प्रकार रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में एक निरन्तर विकसित होने वाली अवधारणा रही, जिसने विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त किया [6]।

इसी व्यापक नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' जैसे ग्रन्थों का उद्भव हुआ, जो उत्तरवर्ती नाट्यचिन्तन के महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। ये ग्रन्थ नाट्य के लक्षण, संरचना तथा सौन्दर्यात्मक तत्त्वों का निरूपण करते हुए रस-सिद्धान्त को अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में नाट्य के विविध लक्षणों के साथ रस के तत्त्वों का सूत्रात्मक एवं संक्षिप्त विवेचन मिलता है। इसमें रस की परिभाषा, उसके अवयवों तथा नाट्य में उसकी अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया है, जिससे यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के संकलन एवं साररूप प्रस्तुति के रूप में महत्वपूर्ण बन जाता है।

इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं व्याख्यात्मक निरूपण प्राप्त होता है। इसमें रस के भेद, उनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया तथा नाट्य-अभिनय में उनके प्रयोग का अधिक स्पष्ट एवं क्रमबद्ध विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ में न केवल सैद्धान्तिक पक्ष पर बल दिया गया है, बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी यह बताया गया है कि किस प्रकार अभिनय, संवाद, एवं मंच-व्यवस्था के माध्यम से रस की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। इस दृष्टि से 'नाटकचन्द्रिका' रस-सिद्धान्त के अनुप्रयोगात्मक पक्ष को समझने के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती है।

इन दोनों ग्रन्थों की प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि ये नाट्यशास्त्रीय परम्परा के उत्तरवर्ती विकास को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। जहाँ एक ओर ये ग्रन्थ भरत एवं अभिनवगुप्तादि आचार्यों की परम्परा से सम्बद्ध रहते हुए रस-सिद्धान्त के मूल तत्त्वों को स्वीकार करते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी विशिष्ट दृष्टि से उनका पुनर्विन्यास भी करते हैं। इस प्रकार ये ग्रन्थ परम्परा और नवीनता के समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

अतः प्रस्तुत शोध की पृष्ठभूमि में भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा का यह समृद्ध विकासक्रम तथा रस-सिद्धान्त की क्रमिक उत्क्रान्ति निहित है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' का अध्ययन इस परम्परा के अन्तर्गत रस के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आयामों को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन ग्रन्थों के तुलनात्मक विश्लेषण के माध्यम से न केवल रस-सिद्धान्त की विविधता एवं गाम्भीर्य का उद्घाटन सम्भव है, बल्कि नाट्य-प्रयोग में उसकी प्रासंगिकता एवं उपयोगिता भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की जा सकती है। इस प्रकार यह शोध भारतीय नाट्यपरम्परा के गहन अध्ययन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है।

3. नाटक लक्षणरत्नकोश में रस-सिद्धान्त

भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा में रस-सिद्धान्त को केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, तथापि इसके विभिन्न आयामों का निरूपण विविध ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से हुआ है। भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* से आरम्भ होकर अभिनवगुप्तादि आचार्यों तक रस की जो सुदीर्घ व्याख्यात्मक परम्परा विकसित हुई, उसका उत्तरवर्ती चरण अपेक्षाकृत कम चर्चित ग्रन्थों में सुरक्षित है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' तथा 'नाटकचन्द्रिका' ऐसे ही ग्रन्थ हैं, जिनमें रस-सिद्धान्त का पुनर्पाठ एवं पुनर्विन्यास उपलब्ध होता है। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन अभी तक सम्यक् रूप से सम्पन्न नहीं हुआ है, जिससे इनके अन्तर्निहित तात्त्विक भेद एवं साम्य पूर्णतः उद्घाटित नहीं हो सके हैं। अतः इस विषय का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण शोध-अवकाश की पूर्ति करता है [7]।

अध्ययन की आवश्यकता इस तथ्य में निहित है कि रस-सिद्धान्त का स्वरूप स्थिर एवं एकरूप नहीं है, अपितु वह विभिन्न आचार्यों के चिन्तन के अनुसार परिवर्तित एवं परिष्कृत होता रहा है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में जहाँ रस का सूत्रात्मक एवं संक्षिप्त निरूपण मिलता है, वहीं 'नाटकचन्द्रिका' में उसका अधिक विस्तृत एवं व्याख्यात्मक स्वरूप प्रस्तुत होता है। इन दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि रस की अवधारणा किस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्यात्मक स्तरों पर अभिव्यक्त हुई है, तथा नाट्य-प्रयोग में उसकी संरचना और अभिव्यक्ति के स्वरूप में क्या परिवर्तन आये हैं। इस प्रकार यह अध्ययन रस-सिद्धान्त की आन्तरिक विविधता तथा उसके विकासक्रम को समझने के लिए आवश्यक है।

औचित्य की दृष्टि से यह अध्ययन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह नाट्यशास्त्रीय परम्परा के कम चर्चित किन्तु महत्त्वपूर्ण स्रोतों को केन्द्र में लाता है। प्रायः रस-सिद्धान्त के अध्ययन में *नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश* अथवा *साहित्यदर्पण* जैसे प्रमुख ग्रन्थों पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है, जबकि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' जैसे ग्रन्थ अपेक्षाकृत उपेक्षित रह जाते हैं। इन ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन न केवल परम्परा की निरन्तरता को स्पष्ट करता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि उत्तरवर्ती काल में रस-सिद्धान्त का पुनर्परिभाषण किस प्रकार हुआ। अतः यह शोध परम्परा के समग्र बोध के लिए अनिवार्य है [8]।

इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान-उपकरण है, जिसके माध्यम से समानताओं एवं भिन्नताओं का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण सम्भव होता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में रस की परिभाषा, रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया, स्थायीभावों का स्वरूप, तथा विभाव–अनुभाव–व्यभिचारी भावों के समन्वय में जो सूक्ष्म अन्तर विद्यमान हैं, उनका विवेचन केवल तुलनात्मक दृष्टिकोण से ही सम्भव है। इससे न केवल सिद्धान्त की सूक्ष्मताओं का उद्घाटन होता है, बल्कि यह भी स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्रीय चिन्तन एक गतिशील एवं बहुआयामी प्रक्रिया है [9]।

आधुनिक विमर्श की दृष्टि से भी यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। समकालीन नाट्य-चिन्तन, प्रदर्शन-कला तथा सौन्दर्यशास्त्र में भाव, अनुभूति एवं दर्शक-प्रतिक्रिया जैसे तत्त्वों पर विशेष बल दिया जा रहा है। रस-सिद्धान्त इन सभी आयामों को एक समग्र सैद्धान्तिक आधार प्रदान करता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में निहित व्याख्याएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि वे नाट्य-अभिनय, प्रस्तुति तथा दर्शकानुभूति के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करती हैं। अतः इन ग्रन्थों का अध्ययन आधुनिक नाट्य-प्रयोग, रंगमंचीय प्रस्तुति तथा अभिनय-प्रशिक्षण के लिए भी मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है [10]।

साथ ही, यह अध्ययन परम्परा और आधुनिकता के मध्य संवाद स्थापित करने में सहायक है। जहाँ एक ओर यह भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के गूढ़ तत्त्वों को पुनः उद्घाटित करता है, वहीं दूसरी ओर उन्हें आधुनिक सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में समझने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार यह शोध न केवल शास्त्रीय अध्ययन को समृद्ध करता है, बल्कि उसे समकालीन विमर्श से भी जोड़ता है।

अतः स्पष्ट है कि ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ एवं ‘नाटकचन्द्रिका’ में रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन न केवल एक शास्त्रीय आवश्यकता है, अपितु उसका औचित्य भी अत्यन्त सुदृढ़ है। यह अध्ययन भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा को अधिक व्यापक एवं गहन रूप में समझने में सहायक होगा, साथ ही आधुनिक नाट्य-विमर्श एवं प्रयोग के लिए भी एक सशक्त सैद्धान्तिक आधार प्रदान करेगा।

शोध के उद्देश्य

1. ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ एवं ‘नाटकचन्द्रिका’ में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त के स्वरूप, परिभाषा तथा मूल तत्त्वों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायीभाव) का सैद्धान्तिक विश्लेषण करना।
2. दोनों ग्रन्थों में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया तथा उसके दार्शनिक आधारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके साम्य एवं वैषम्य को स्पष्ट करना।
3. ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ एवं ‘नाटकचन्द्रिका’ में वर्णित रस-भेद, उनकी संरचना तथा नाट्य में उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप का आलोचनात्मक परीक्षण करना।
4. दोनों ग्रन्थों में नाट्य-अभिनय, प्रस्तुति एवं दर्शकानुभूति के संदर्भ में रस-सिद्धान्त के व्यावहारिक अनुप्रयोग का विश्लेषण करना।
5. उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय परम्परा में इन ग्रन्थों के योगदान का मूल्यांकन करते हुए रस-सिद्धान्त के विकासक्रम में उनकी स्थिति निर्धारित करना।
6. तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से यह प्रतिपादित करना कि दोनों ग्रन्थों की व्याख्यात्मक भिन्नताएँ नाट्य-प्रयोग एवं सौन्दर्यानुभूति को किस प्रकार प्रभावित करती हैं।
7. आधुनिक नाट्य-विमर्श एवं प्रदर्शन-कला के सन्दर्भ में इन ग्रन्थों में निहित रस-सिद्धान्त की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता का परीक्षण करना।

शोध-प्रश्न

1. ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ तथा ‘नाटकचन्द्रिका’ में रस-सिद्धान्त की परिभाषा एवं उसके अवयवों—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायीभाव—का निरूपण किस प्रकार किया गया है, और इनमें कौन-सी प्रमुख समानताएँ एवं भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं?
2. दोनों ग्रन्थों में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को किस प्रकार व्याख्यायित किया गया है, तथा उसके दार्शनिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय आधारों में क्या अन्तर परिलक्षित होता है?
3. ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ एवं ‘नाटकचन्द्रिका’ में रस-भेदों की संख्या, स्वरूप एवं वर्गीकरण में क्या साम्य एवं वैषम्य विद्यमान हैं?
4. इन दोनों ग्रन्थों में नाट्य-अभिनय एवं प्रस्तुति के सन्दर्भ में रस की अभिव्यक्ति किन-किन साधनों के माध्यम से सम्भव मानी गई है, और उनके व्यावहारिक पक्ष में क्या भिन्नताएँ हैं?
5. ‘नाटक लक्षणरत्नकोश’ की सूत्रात्मक प्रस्तुति एवं ‘नाटकचन्द्रिका’ की व्याख्यात्मक शैली रस-सिद्धान्त की समझ तथा उसके अनुप्रयोग को किस प्रकार प्रभावित करती है?
6. समकालीन नाट्य-विमर्श एवं प्रदर्शन-कला के परिप्रेक्ष्य में इन दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता किस रूप में व्याख्यायित की जा सकती है?

शोध-पद्धति

1. प्रस्तुत शोध का स्वरूप मूलतः ग्रंथाधारित (Textual) है, जिसमें 'नाटक लक्षणरत्नकोश' तथा 'नाटकचन्द्रिका' को प्रमुख आधारग्रन्थ (Primary Texts) के रूप में ग्रहण किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त के तत्त्वों—रस-परिभाषा, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, स्थायीभाव तथा रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया—का सूक्ष्म अध्ययन कर उनके अन्तर्निहित तात्त्विक आशयों का अन्वेषण किया गया है। यह अध्ययन बहुविध पद्धतियों—तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक—के समन्वय पर आधारित है, जिससे विषय का सम्यक् एवं संतुलित प्रतिपादन सम्भव हो सके।

2. तुलनात्मक पद्धति के अंतर्गत 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में वर्णित रस-सिद्धान्त के प्रमुख आयामों का परस्पर परीक्षण किया गया है। इसमें रस की परिभाषा, रस-निष्पत्ति का स्वरूप, रस-भेदों की संरचना, तथा नाट्य-अभिनय में उनकी अभिव्यक्ति जैसे बिन्दुओं को तुलनात्मक आधार के रूप में ग्रहण कर समानताओं एवं भिन्नताओं का निरूपण किया गया है। इस पद्धति के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि दोनों ग्रन्थ किस प्रकार एक ही परम्परा से सम्बद्ध होते हुए भी अपने-अपने विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

3. विश्लेषणात्मक पद्धति के अंतर्गत दोनों ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जिससे उनके तात्त्विक आधार, संरचनात्मक विशेषताएँ तथा आन्तरिक सम्बन्धों का उद्‌घाटन हो सके। इस प्रक्रिया में रस के अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी कार्यप्रणाली तथा नाट्य-प्रयोग में उनकी भूमिका का तार्किक परीक्षण किया गया है।

4. व्याख्यात्मक पद्धति का प्रयोग उन स्थलों पर किया गया है, जहाँ ग्रन्थों में सूत्रात्मक या संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तृत अर्थ-निर्णय आवश्यक है। विशेषतः 'नाटक लक्षणरत्नकोश' की संक्षिप्त शैली को ध्यान में रखते हुए उसके कथनों की स्पष्टता के लिए व्याख्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है, जिससे उसके निहितार्थों का समुचित उद्‌घाटन सम्भव हो सके।

5. स्रोत-सामग्री के संदर्भ में इस शोध में प्राथमिक एवं द्वितीयक—दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों के रूप में 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' के मूल पाठों का अध्ययन किया गया है, जिनके आधार पर समस्त विश्लेषण एवं निष्कर्ष निर्मित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त, द्वितीयक स्रोतों के रूप में *नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण* आदि प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, तथा समकालीन शोध-लेखों एवं आलोचनात्मक अध्ययनों का सहारा लिया गया है, जिससे विषय की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को सुदृढ़ किया जा सके।

6. इस प्रकार प्रस्तुत शोध-पद्धति विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय पर आधारित है, जो न केवल 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करती है, बल्कि उनके तुलनात्मक एवं व्यावहारिक आयामों को भी स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित करती है।

4. नाटक लक्षणरत्नकोश में रस-सिद्धान्त

'नाटक लक्षणरत्नकोश' भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें नाट्य के लक्षणों के साथ-साथ उसके सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निरूपण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में रस-सिद्धान्त को नाट्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए उसके स्वरूप, अवयवों तथा नाटकीय संरचना में उसकी भूमिका का सूत्रात्मक प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि इसकी शैली अपेक्षाकृत संक्षिप्त एवं सूत्ररूप है, तथापि उसमें निहित तात्त्विक गाम्भीर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रस की संकल्पना के सन्दर्भ में 'नाटक लक्षणरत्नकोश' मूलतः भरतमुनि की परम्परा का अनुसरण करता है। रस को यहाँ स्थायीभावों के परिपाक से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट आनन्दानुभूति के रूप में ग्रहण किया गया है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के समन्वय से जब स्थायीभाव उत्कर्ष को प्राप्त होता है, तब वह रस के रूप में सहृदय के अन्तःकरण में प्रकट होता है। इस प्रकार रस कोई बाह्य वस्तु नहीं, अपितु एक अन्तर्मुखी अनुभूति है, जो नाट्य-प्रयोग के माध्यम से उत्पन्न होती है। ग्रन्थकार की दृष्टि में रस नाट्य का परम प्रयोजन है, क्योंकि नाट्य का सम्पूर्ण विन्यास अन्ततः दर्शक में आनन्द एवं सौन्दर्यबोध उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है।

रस के अवयवों का निरूपण इस ग्रन्थ में संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से किया गया है। विभाव को रस-निष्पत्ति का कारण माना गया है, जिसमें आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों प्रकार के विभाव सम्मिलित होते हैं। आलम्बन विभाव के रूप में नायक, नायिका अथवा अन्य पात्रों की भूमिका प्रमुख होती है, जबकि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत वातावरण, समय, स्थान एवं अन्य सहायक तत्त्व आते हैं, जो भावों को उद्दीप्त करते हैं। अनुभाव उन बाह्य अभिव्यक्तियों को कहा गया है, जिनके माध्यम से आन्तरिक भावों का प्रकटीकरण होता है, जैसे नेत्र-चेष्टा, अंग-विक्षेप, वाणी आदि। व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव वे चञ्चल एवं अनियत भाव हैं, जो स्थायीभाव के पोषण में सहायक होते हैं। इस प्रकार इन समस्त अवयवों का समुचित समन्वय स्थायीभाव को परिपक्व कर रस की निष्पत्ति करता है।

'नाटक लक्षणरत्नकोश' में स्थायीभाव को रस का मूलाधार माना गया है। स्थायीभाव वह भाव है, जो सहृदय के अन्तःकरण में निहित रहता है और उपयुक्त परिस्थितियों में विभावादि के माध्यम से जाग्रत होकर रसस्वरूप धारण करता है। इस ग्रन्थ में स्थायीभावों की परिपक्वता एवं उनके उत्कर्ष पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि बिना स्थायीभाव के परिपाक के रस की निष्पत्ति सम्भव नहीं मानी गई है। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि स्थायीभावों का सामान्यीकरण (साधारणीकरण) ही रसास्वादन का मूल कारण है, जिससे दर्शक व्यक्तिगत भावों से ऊपर उठकर एक सार्वभौम आनन्द का अनुभव करता है।

नाटकीय संरचना में रस की भूमिका के सन्दर्भ में 'नाटक लक्षणरत्नकोश' का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। नाट्य के समस्त अंग—वस्तु, पात्र, संवाद, अभिनय एवं मंच-व्यवस्था—रस की निष्पत्ति के साधन के रूप में कार्य करते हैं। यदि इन तत्त्वों में समुचित सामंजस्य नहीं होता, तो रसोत्पत्ति में बाधा उत्पन्न होती है। अतः ग्रन्थकार इस बात पर बल देता है कि नाट्य-रचना में प्रत्येक तत्त्व का चयन एवं विन्यास इस प्रकार होना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक हो। उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस के लिए उपयुक्त पात्र, परिस्थितियाँ एवं भाषा का चयन आवश्यक है, जबकि वीर या करुण रस के लिए भिन्न प्रकार के विन्यास की अपेक्षा होती है।

अभिनय के सन्दर्भ में भी इस ग्रन्थ में रस की केन्द्रीयता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होती है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—इन चारों प्रकार के अभिनय को रस-प्रकाशन का माध्यम माना गया है। विशेषतः सात्त्विक अभिनय को रसोत्पत्ति में अत्यन्त प्रभावी माना गया है, क्योंकि इसके माध्यम से आन्तरिक भावों की सजीव अभिव्यक्ति सम्भव होती है। इस प्रकार अभिनेता का कौशल, उसकी भावाभिव्यक्ति की क्षमता तथा मंचीय प्रस्तुति की सूक्ष्मता ग्रन्थकार की विशिष्ट दृष्टि इस तथ्य में निहित है कि वह रस-सिद्धान्त को अत्यधिक विस्तार में न ले जाकर उसके मूल तत्त्वों को संक्षेप में प्रस्तुत करता है, किन्तु यह संक्षिप्तता उसकी गाम्भीर्य को कम नहीं करती। अपितु यह शैली नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के साररूप बोध को सुलभ बनाती है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस का निरूपण अत्यधिक दार्शनिक विमर्श के रूप में न होकर नाट्य-प्रयोग के सन्दर्भ में अधिक व्यावहारिक रूप में किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं, अपितु नाट्य-रचना एवं प्रस्तुति के लिए एक मार्गदर्शक रूपरेखा प्रदान करना भी है।

इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें रस-सिद्धान्त को नाट्य के अन्य तत्त्वों से अभिन्न रूप में देखा गया है। अर्थात् रस को पृथक् इकाई के रूप में न मानकर नाट्य की समग्र संरचना के भीतर स्थित एक जीवंत तत्त्व के रूप में समझा गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्रीय चिन्तन की समन्वयी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य करते हैं।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस-सिद्धान्त का निरूपण संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त सारगर्भित एवं व्यावहारिक है। इसमें रस की संकल्पना, उसके अवयवों की संरचना तथा नाटकीय प्रयोग में उसकी भूमिका का स्पष्ट एवं सुसंगत प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थकार की दृष्टि में रस नाट्य का प्राणतत्त्व है, जिसके बिना नाट्य की समस्त संरचना अर्थहीन हो जाती है। इस प्रकार यह ग्रन्थ रस-सिद्धान्त के मूल तत्त्वों को समझने तथा उन्हें नाट्य-प्रयोग में लागू करने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

5. नाटकचन्द्रिका में रस-सिद्धान्त

'नाटकचन्द्रिका' उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीय परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें नाट्य के तत्त्वों का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं व्याख्यात्मक निरूपण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में रस-सिद्धान्त को नाट्य की केन्द्रीय शक्ति के रूप में स्थापित करते हुए उसके स्वरूप, निष्पत्ति-प्रक्रिया, अवयवों तथा नाट्यगत प्रयोग का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। 'नाटकचन्द्रिका' की विशेषता यह है कि यह रस को केवल सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं, अपितु अभिनय एवं मंचीय प्रस्तुति के सन्दर्भ में भी स्पष्ट करती है, जिससे यह ग्रन्थ नाट्य के व्यावहारिक पक्ष को समझने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

रस-निष्पत्ति के सन्दर्भ में 'नाटकचन्द्रिका' भरतमुनि की परम्परा का अनुसरण करते हुए विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के समन्वय को प्रमुख आधार मानती है, किन्तु इसकी व्याख्या अधिक स्पष्ट एवं विश्लेषणात्मक है। यहाँ रस को स्थायीभावों की परिपक्व अवस्था के रूप में ग्रहण किया गया है, जो उपयुक्त नाट्य-प्रसंगों एवं अभिनय के माध्यम से सहृदय दर्शक के अन्तःकरण में उद्भासित होता है। इस प्रक्रिया में साधारणीकरण की भूमिका निहित रूप से स्वीकृत प्रतीत होती है, क्योंकि व्यक्तिगत भावों का सार्वभौम अनुभव में रूपान्तरण ही रसास्वादन का मूल कारण माना गया है। इस प्रकार 'नाटकचन्द्रिका' में रस-निष्पत्ति को एक गतिशील एवं बहुस्तरीय प्रक्रिया के रूप में देखा गया है, जिसमें पात्र, परिस्थिति, अभिनय तथा दर्शक—सभी की सहभागिता आवश्यक है।

रस के घटकों का विवेचन इस ग्रन्थ में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है। विभाव को रस-उत्पत्ति का मूल कारण मानते हुए उसके आलम्बन एवं उद्दीपन भेदों का स्पष्ट निरूपण किया गया है। आलम्बन विभाव के रूप में नायक-नायिका अथवा अन्य पात्रों की भूमिका को केन्द्रीय माना गया है, जबकि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत दृश्य, काल, वातावरण एवं सहायक उपादानों को सम्मिलित किया गया है, जो भावों को उद्दीप्त करने का कार्य करते हैं। अनुभावों को आन्तरिक भावों की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में निरूपित करते हुए उनके विविध रूपों—नेत्र-चेष्टा, मुखाभिनय, देह-व्यापार एवं वाणी—का विशद वर्णन मिलता है। व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भावों को स्थायीभाव के पोषक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, जो विभिन्न परिस्थितियों में उद्भूत होकर रस की तीव्रता को बढ़ाते हैं।

'नाटकचन्द्रिका' में स्थायीभाव का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि वही रस का आधारभूत तत्त्व है। स्थायीभाव सहृदय के अन्तःकरण में निहित रहते हैं और नाट्य-प्रयोग के माध्यम से जाग्रत होकर रस का रूप धारण करते हैं। इस ग्रन्थ में स्थायीभावों के विविध रूपों तथा उनके अनुरूप रसों का विवेचन भी प्राप्त होता है, जिससे रस-भेदों की संरचना अधिक स्पष्ट रूप में सामने आती है। इस प्रकार रस के घटकों का यह सुव्यवस्थित निरूपण 'नाटकचन्द्रिका' को अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्याख्यात्मक एवं शिक्षणोपयोगी बनाता है।

नाट्यगत प्रयोग के सन्दर्भ में 'नाटकचन्द्रिका' की दृष्टि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में रस-सिद्धान्त को केवल दार्शनिक अवधारणा के रूप में न मानकर उसे नाट्य-अभिनय एवं मंचीय प्रस्तुति के साथ घनिष्ठ रूप से जोड़ा गया है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय के माध्यम से रस की अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव होती है, इसका विस्तृत विवेचन यहाँ प्राप्त होता है। अभिनेता के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह पात्र के भावों को आत्मसात् कर उन्हें स्वाभाविक एवं प्रभावी रूप में प्रस्तुत करे, जिससे दर्शक में अपेक्षित रसोत्पत्ति हो सके। विशेषतः सात्त्विक भावों—जैसे स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि—की अभिव्यक्ति को रस-निष्पत्ति में अत्यन्त प्रभावी माना गया है, क्योंकि ये भाव आन्तरिक अनुभूति के प्रत्यक्ष संकेत होते हैं।

इसके अतिरिक्त, 'नाटकचन्द्रिका' में नाट्य के अन्य तत्त्वों—जैसे संवाद, कथानक, पात्र-निर्माण तथा मंच-व्यवस्था—को भी रस की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। संवाद की शैली, भाषा का चयन, तथा प्रसंगों का विन्यास इस प्रकार होना चाहिए कि वे किसी विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक हों। इसी प्रकार कथानक की संरचना में भी यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उसमें रस-परिपाक की क्रमिक प्रक्रिया स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य-रचना के प्रत्येक तत्त्व को रस के साथ सम्बन्धित करते हुए एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

'नाटकचन्द्रिका' की विशिष्टता उसकी व्याख्यात्मकता एवं व्यावहारिकता में निहित है। जहाँ अनेक ग्रन्थ रस-सिद्धान्त को अत्यधिक दार्शनिक विमर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहीं यह ग्रन्थ उसे सरल, स्पष्ट एवं क्रमबद्ध रूप में निरूपित करता है, जिससे उसका व्यावहारिक अनुप्रयोग सुलभ हो जाता है। इस ग्रन्थ में उदाहरणों एवं स्पष्टीकरणों के माध्यम से यह बताया गया है कि किस प्रकार विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति नाट्य-मंच पर की जा सकती है, और इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार 'नाटकचन्द्रिका' न केवल सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए, बल्कि नाट्य-अभ्यास एवं प्रशिक्षण के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त को एक जीवंत एवं गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। यहाँ रस केवल ग्रन्थों तक सीमित अवधारणा नहीं, अपितु नाट्य-प्रयोग के माध्यम से साकार होने वाला अनुभव है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्रीय चिन्तन को जीवन्तता प्रदान करता है तथा उसे व्यवहारिक स्तर पर लागू करने की दिशा में मार्गदर्शन करता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त का निरूपण अत्यन्त सुव्यवस्थित, व्याख्यात्मक एवं प्रयोगोन्मुख है। इसमें रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया, उसके घटकों की संरचना तथा नाट्यगत प्रयोग का समन्वित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की यह विशेषता उसे नाट्यशास्त्रीय परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है, क्योंकि यह रस-सिद्धान्त को केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी सार्थक रूप में प्रतिपादित करती है। इस प्रकार 'नाटकचन्द्रिका' नाट्यकला के सौन्दर्यशास्त्रीय एवं प्रयोगात्मक दोनों पक्षों के सम्यक् बोध के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

6. 'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त की समानताएँ

'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा के ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न शैली में होते हुए भी अपने मूलाधार में गहन साम्य रखता है। दोनों ग्रन्थ इस तथ्य पर एकमत हैं कि नाट्य का परम प्रयोजन मात्र घटनाक्रम का प्रदर्शन न होकर सहृदय के अन्तःकरण में सौन्दर्यानुभूति का जागरण है, और यह अनुभूति रस के माध्यम से ही सम्पन्न होती है। इस कारण दोनों में रस को नाट्य की आत्मा, उसके प्राणतत्त्व तथा सौन्दर्यात्मक सिद्धि का सर्वोच्च मानदण्ड माना गया है। यहाँ नाट्य का मूल्य उसके बाह्य वैभव, कथाविन्यास अथवा पात्र-संख्या से नहीं, बल्कि इस बात से निर्धारित होता है कि वह दर्शक-हृदय में कितनी समर्थता से रसोत्पत्ति करता है। इस दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में नाट्य-उद्देश्य की एकरूपता स्पष्ट है।

अवधारणात्मक स्तर पर भी दोनों ग्रन्थ भरतप्रणीत रस-परम्परा के अन्तर्गत स्थित प्रतीत होते हैं। रस को वे स्थायीभाव के परिपाक से उत्पन्न वह विशिष्ट आनन्दरूप अनुभवन मानते हैं, जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के समन्वय से सहृदय में प्रकट होता है। यद्यपि किसी ग्रन्थ में यह प्रतिपादन अधिक सूत्रात्मक है और किसी में अधिक व्याख्यात्मक, तथापि दोनों का सिद्धान्तगत आधार समान है। दोनों में रस कोई बाह्य पदार्थ या मात्र पात्रगत भावावस्था नहीं है; वह नाट्योपस्थापन से उत्पन्न एक सौन्दर्यपरक अनुभूति है, जिसका अन्तिम आस्वाद दर्शक या सहृदय के स्तर पर सम्पन्न होता है। इस प्रकार रस की सत्ता को दोनों ग्रन्थ अनुभवगत, आस्वादपरक और नाट्य-केन्द्रित मानते हैं।

रस-तत्त्वों के निरूपण में भी दोनों ग्रन्थों में मूलभूत समानता विद्यमान है। विभाव को रसोत्पत्ति का कारण, अनुभाव को आन्तरिक भावों की दृश्य अभिव्यक्ति और व्यभिचारी भावों को स्थायीभाव के पोषक चञ्चल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। आलम्बन और उद्दीपन विभावों की भूमिका, अनुभावों की अभिव्यंजक क्षमता तथा संचारी भावों की सहायक स्थिति—ये सभी तत्त्व दोनों ग्रन्थों में रस-प्रक्रिया के अनिवार्य अवयव माने गए हैं। इसी प्रकार स्थायीभाव को रस का

बीजरूप मानने में भी दोनों ग्रन्थों का अभिमत एक है। बिना स्थायीभाव के परिपाक के रस की निष्पत्ति सम्भव नहीं—यह नाट्यशास्त्रीय स्वीकृति दोनों में अन्तर्निहित रूप से विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि रस की संरचना के विषय में दोनों ग्रन्थ एक ही शास्त्रीय प्रतिमान को स्वीकार करते हैं।

नाटकीय संरचना के परिप्रेक्ष्य में दोनों ग्रन्थ इस मत के समर्थक हैं कि नाट्य के समस्त अवयव रस-सिद्धि के अधीन रहते हैं। कथानक, पात्र-रचना, संवाद, देशकाल-विन्यास, अभिनय और दृश्य-संयोजन—इनमें से कोई भी तत्त्व स्वतन्त्र रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं, बल्कि उनकी सार्थकता इस बात में है कि वे किसी विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में कितना योगदान देते हैं। इस अर्थ में दोनों ग्रन्थ नाट्य को रसाभिमुख रचना मानते हैं, जहाँ संरचना का प्रत्येक अंश अन्ततः भाव-संवर्द्धन और रस-परिपाक की दिशा में नियोजित होता है। इस प्रकार नाट्य के आन्तरिक संगठन और रस के सम्बन्ध को लेकर दोनों ग्रन्थों में स्पष्ट साम्य दृष्टिगोचर होता है।

अभिव्यक्ति-पक्ष की दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त समानता है। दोनों यह मानते हैं कि रस की सिद्धि केवल पाठगत अर्थ से नहीं, बल्कि अभिनय-प्रक्रिया की प्रभावकारिता से सम्भव होती है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—इन अभिनय-भेदों की भूमिका रस-प्रकाशन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है। अभिनेता की देहभाषा, मुखमुद्रा, वाणी, भाव-संयम तथा आन्तरिक तन्मयता के बिना रस का प्रभाव पूर्ण नहीं हो सकता—यह विचार दोनों ग्रन्थों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान है। विशेषतः सात्त्विक अभिव्यक्ति को दोनों परम्पराएँ रसोत्पत्ति की प्रामाणिक भूमि मानती हैं, क्योंकि वही भाव को विश्वसनीय और प्रभावी बनाती है। इससे ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थ रस को केवल शास्त्रीय परिभाषा तक सीमित नहीं रखते, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति को मंचीय सजीवता से जोड़ते हैं।

दर्शक की भूमिका के सम्बन्ध में भी दोनों ग्रन्थों का मूल दृष्टिकोण समान है। नाट्य की सिद्धि का अन्तिम लक्ष्य दर्शक-हृदय में उस भावानुभूति का संचार करना है, जो निजी अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर सौन्दर्यात्मक आस्वाद में रूपान्तरित हो जाती है। यद्यपि दोनों ग्रन्थों में साधारणीकरण का दार्शनिक विवेचन समान विस्तार से न भी मिलता हो, तथापि यह स्वीकृति स्पष्ट है कि रस का पूर्णत्व सहृदय के अनुभव में ही सिद्ध होता है। नाटक के पात्र, प्रसंग और संवाद केवल माध्यम हैं; उनकी सफलता तब है जब वे दर्शक में सामान्यीकृत भाव-जागरण उत्पन्न करें। इस प्रकार रस का केन्द्र दर्शक-अनुभव है—यह समानता दोनों ग्रन्थों को एक ही सौन्दर्यपरक परम्परा में स्थापित करती है।

इन दोनों ग्रन्थों की एक महत्त्वपूर्ण समानता यह भी है कि वे रस-सिद्धान्त को नाट्य के अन्य तत्त्वों से पृथक् नहीं देखते। उनके यहाँ रस कोई अतिरिक्त अलंकरण या परवर्ती प्रभाव नहीं, बल्कि नाट्य-विधान की अन्तःसलिला है। नाट्य की योजना, विकास और प्रस्तुति—सभी स्तरों पर रस का विचार अन्तर्निहित रहता है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थ नाट्यशास्त्रीय समग्रता के समर्थक हैं, जहाँ सिद्धान्त और प्रयोग, संरचना और अभिव्यक्ति, भाव और आस्वाद—सभी एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। यही कारण है कि दोनों में रस का विवेचन नाट्य के केन्द्र में स्थित दिखाई देता है, न कि किसी गौण प्रसंग के रूप में।

अतः कहा जा सकता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त की समानताएँ केवल सामान्य शास्त्रीय अनुकरण तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे नाट्य-दृष्टि, सौन्दर्यबोध, रस-तत्त्वों की संरचना, नाट्य-उद्देश्य और अभिव्यक्ति-पद्धति तक व्यापक रूप से विस्तृत हैं। दोनों ग्रन्थ इस बोध पर आधारित हैं कि नाट्य का चरम मूल्य रसास्वादन में निहित है, और यही तत्त्व उसे साधारण प्रस्तुति से कलात्मक अनुभूति के स्तर तक उठाता है। इस प्रकार इनकी तुलनात्मक समीक्षा से स्पष्ट होता है कि भिन्न शैली और प्रतिपादन-पद्धति के बावजूद दोनों ग्रन्थ रस-केन्द्रित भारतीय नाट्यपरम्परा के अभिन्न प्रतिनिधि हैं।

7. **नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त की भिन्नताएँ**

'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' दोनों ही भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त के प्रतिपादन में इनकी दृष्टि, शैली, प्रयोजन तथा व्यावहारिक आग्रह एकरूप नहीं हैं। यद्यपि दोनों का आधार भरतप्रणीत रस-परम्परा से सम्बद्ध है, तथापि उनके प्रस्तुतिकरण में ऐसी अनेक विशिष्टताएँ हैं, जो उन्हें परस्पर पृथक् पहचान प्रदान करती हैं। इन भिन्नताओं का अध्ययन विशेषतः सिद्धान्त-प्रस्तुति, परिभाषात्मक दृष्टि, नाट्यगत उपयोग, व्याख्यात्मक शैली तथा व्यवहारिक आग्रह के स्तर पर अधिक स्पष्ट रूप में किया जा सकता है।

सर्वप्रथम सिद्धान्त-प्रस्तुति की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में उल्लेखनीय अन्तर परिलक्षित होता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन अपेक्षया संक्षिप्त, सूत्रात्मक और लक्षणप्रधान रूप में प्राप्त होता है। ग्रन्थकार का उद्देश्य वहाँ व्यापक दार्शनिक विस्तार या दीर्घ व्याख्या न होकर नाट्य के आवश्यक तत्त्वों का साररूप संकलन प्रतीत होता है। इस कारण रस का विवेचन वहाँ प्रायः नाट्यलक्षणों के एक अंग के रूप में सामने आता है। इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त अधिक विस्तार, स्पष्टता और क्रमबद्धता के साथ प्रतिपादित है। वहाँ विषय का केवल संकेत नहीं, बल्कि उसका विश्लेषणात्मक उद्‌घाटन मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' का स्वर संहितात्मक है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' का स्वर शिक्षणात्मक और विवेचनात्मक है। एक ग्रन्थ संक्षेप में तत्त्व का निर्धारण करता है, दूसरा उसी तत्त्व की अर्थ-संरचना को विस्तृत करता है।

परिभाषात्मक दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों में सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण भिन्नता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' रस को नाट्य की आत्मा मानते हुए उसके मूल तत्त्वों का संक्षिप्त संकेत देता है, पर उसकी परिभाषा में विस्तार की अपेक्षा तत्त्वनिष्ठ संक्षेप अधिक है। वहाँ रस की संकल्पना स्थायीभाव के परिपाक और विभावादि की संयोगात्मक प्रक्रिया से सम्बद्ध अवश्य है, किन्तु उसका रूप अधिक शास्त्रीय-निष्कर्षात्मक है। 'नाटकचन्द्रिका' में यही अवधारणा अधिक व्याख्यायित रूप में सामने आती है, जहाँ रस को केवल एक परिणत भावदशा न मानकर सहृदय-केन्द्रित अनुभव की प्रक्रिया के रूप में समझने का प्रयत्न दिखाई देता है। इस कारण 'नाटकचन्द्रिका' में रस की परिभाषा अपेक्षया अधिक अनुभवपरक, मंचपरक और संप्रेषणपरक रूप ग्रहण करती है। दूसरे शब्दों में, 'नाटक लक्षणरत्नकोश' रस का तात्त्विक रूप स्थिर करता है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' उसके अनुभवगत आयामों को अधिक स्पष्ट करती है।

रस-निष्पत्ति के अवयवों—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायीभाव—के निरूपण में भी दोनों ग्रन्थों का समान आधार होते हुए भिन्न बल-विन्यास दिखाई देता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में इन तत्त्वों का उल्लेख नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुकूल मिलता है, पर उनका विस्तृत पारस्परिक विश्लेषण अपेक्षया अल्प है। वहाँ यह मानो पूर्वस्वीकृत शास्त्रीय तत्त्व हैं, जिनका लक्षणात्मक उल्लेख पर्याप्त समझा गया है। दूसरी ओर 'नाटकचन्द्रिका' इन अवयवों के कार्य, प्रयोजन और नाट्यगत प्रभाव को अधिक स्पष्ट करती है। विशेषतः अनुभावों और संचारी भावों की मंचीय उपयोगिता, उनकी अभिव्यक्ति की विधि और रस-परिपाक में उनकी भूमिका का अधिक प्रत्यक्ष बोध वहाँ मिलता है। इस प्रकार 'नाटक लक्षणरत्नकोश' तत्त्वों को वर्गीकृत और निर्दिष्ट करता है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' उन्हें क्रियाशील रूप में समझाती है।

नाट्यगत उपयोग के स्तर पर दोनों ग्रन्थों के बीच अन्तर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस का सम्बन्ध नाट्य की समग्र संरचना से तो स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका व्यावहारिक प्रतिपादन अपेक्षया सीमित है। वहाँ यह बल अधिक है कि नाट्य के विविध तत्त्व अन्ततः रस-सिद्धि के लिए होने चाहिए; परन्तु मंचन, अभिनय, संवाद-संयोजना, दृश्य-विन्यास अथवा दर्शक-प्रभाव के ठोस पक्षों का विशद विवेचन कम मिलता है। इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' में रस को प्रत्यक्ष नाट्य-व्यवहार से अधिक निकटता के साथ जोड़ा गया है। वहाँ अभिनय-प्रक्रिया, भावाभिव्यक्ति, पात्रानुकूल प्रस्तुति, वातावरण-निर्माण और संवाद-विन्यास को रसोत्पत्ति के सक्रिय साधन के रूप में अधिक स्पष्ट महत्त्व दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि 'नाटकचन्द्रिका' का आग्रह केवल यह बताने में नहीं है कि रस नाट्य का प्राण है, बल्कि यह भी बताने में है कि वह मंच पर कैसे साकार होता है।

व्याख्यात्मक शैली की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों का अन्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' की शैली संक्षिप्त, सघन और संकेतात्मक है। उसके वाक्य-विन्यास तथा निरूपण-प्रक्रिया में कोशगत प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जा सकता है, जहाँ उद्देश्य विषय-सामग्री को व्यवस्थित रूप में संगृहीत करना है। ऐसी शैली में अर्थ का विस्तार पाठक की शास्त्रीय तैयारी

पर निर्भर करता है। अतः इस ग्रन्थ का अध्ययन प्रायः व्याख्या-सहायता की अपेक्षा करता है। इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' की शैली अपेक्षया अधिक प्रकाशक, स्पष्ट और विवरणप्रधान है। 'चन्द्रिका' नाम के अनुरूप उसमें विषय के आलोकन और स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति प्रबल है। यह शैली केवल तत्त्व-निर्देश नहीं करती, बल्कि पाठक को समझने की दिशा भी देती है। इसी कारण 'नाटकचन्द्रिका' का रस-विवेचन अधिक सुलभ, शिक्षाप्रद और अनुप्रयोगोन्मुख प्रतीत होता है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' ज्ञान का संक्षिप्त निक्षेप है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' उसी ज्ञान का व्याख्यात्मक प्रसार है।

व्यवहारिक आग्रह के स्तर पर भी दोनों ग्रन्थों का स्वर भिन्न है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का मानकीकरण अधिक प्रमुख है। यह ग्रन्थ नाट्य और रस के आवश्यक तत्त्वों का संक्षेप में विन्यास कर मानो एक शास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत करता है। उसमें व्यवहार का संकेत अवश्य है, किन्तु व्यवहार का विस्तार मुख्य लक्ष्य नहीं है। दूसरी ओर 'नाटकचन्द्रिका' में व्यवहारिक आग्रह अधिक प्रत्यक्ष है। वहाँ नाट्य को जीवित कलारूप मानकर उसके प्रभावोत्पादक पक्ष पर बल दिया गया है। अभिनेता किस प्रकार भावाभिनय करे, रस के अनुकूल दृश्य-संरचना कैसी हो, और नाटकीय संप्रेषण कैसे अधिक प्रभावी बने—इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ 'नाटकचन्द्रिका' में अपेक्षया अधिक मुखर हैं। इस दृष्टि से 'नाटकचन्द्रिका' न केवल रस-सिद्धान्त का विवेचन करती है, बल्कि उसकी रंगमंचीय संभावनाओं का भी संकेत देती है।

एक अन्य भिन्नता उनके बौद्धिक अभिमुखीकरण में भी देखी जा सकती है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' का रुझान नाट्य-तत्त्वों के शास्त्रीय संकलन की ओर अधिक है; वहाँ वर्गीकरण, परिभाषा और लक्षण-निर्धारण का पक्ष प्रधान है। इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' में गतिशील नाट्यानुभव की ओर झुकाव अधिक है; वहाँ अर्थ का विकास, भाव का संप्रेषण और प्रस्तुति की परिणामकारिता अधिक महत्त्व ग्रहण करती है। इस प्रकार एक ग्रन्थ अधिकाधिक शास्त्रीय संरचना का ग्रन्थ है, तो दूसरा उसी संरचना का व्यावहारिक आलोक-विस्तार।

दर्शक और सहृदय के सन्दर्भ में भी भिन्न बल दिखाई देता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में दर्शक की भूमिका रसास्वादन के अंतिम बिन्दु के रूप में निहित है, पर उसका पृथक् मनोवैज्ञानिक या अनुभवगत विवेचन विशेष विस्तार से नहीं मिलता। 'नाटकचन्द्रिका' में दर्शकानुभूति की पृष्ठभूमि अपेक्षया अधिक सजीव है, क्योंकि वहाँ रस को अनुभव-प्रेषण की प्रक्रिया के रूप में अधिक स्पष्टता से समझा गया है। इससे 'नाटकचन्द्रिका' में नाट्य का संप्रेषण-विज्ञान अपेक्षया अधिक उभरकर सामने आता है।

इन सभी विवेचनों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में रस-सिद्धान्त का मूलाधार यद्यपि समान शास्त्रीय परम्परा में निहित है, तथापि उनके प्रतिपादन की प्रवृत्ति भिन्न है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' का स्वर संक्षिप्त, तत्त्वनिष्ठ, लक्षणात्मक और शास्त्रीय-संहितात्मक है; वहीं 'नाटकचन्द्रिका' का स्वर व्याख्यात्मक, प्रयोगोन्मुख, अधिक स्पष्ट और व्यवहारमुखी है। पहला ग्रन्थ रस की संरचना का संहितात्मक नक्शा प्रस्तुत करता है, जबकि दूसरा उसी संरचना में जीवित नाट्य-प्राण का संचार करता है। इसीलिए दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन केवल साम्य-दर्शन तक सीमित नहीं रह सकता; उनकी भिन्नताएँ ही यह बताती हैं कि भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा में रस-सिद्धान्त का विकास मात्र पुनरुक्ति नहीं, बल्कि निरन्तर पुनर्पाठ, पुनर्व्याख्या और पुनःप्रयोग की प्रक्रिया है।

8. व्यावहारिक प्रयोग

'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का महत्त्व केवल शास्त्रीय या सैद्धान्तिक स्तर तक सीमित नहीं है; उसका वास्तविक मूल्य नाट्य-प्रयोग में अधिक स्पष्ट होता है। दोनों ग्रन्थ इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि नाट्य की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जब उसका समस्त विन्यास दर्शक के अन्तःकरण में अपेक्षित रस का संचार करने में समर्थ हो। इस कारण इन ग्रन्थों में निरूपित रस-संबंधी मान्यताएँ नाट्य-मंचन, अभिनय-प्रक्रिया, संवाद-योजना, पात्र-निर्माण तथा दर्शक-अनुभूति—इन सभी स्तरों पर एक सशक्त मार्गदर्शक रूप में प्रयोज्य हैं। यद्यपि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' रस के तत्त्वों को अपेक्षया सूत्रात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है और 'नाटकचन्द्रिका' उन्हें अधिक व्याख्यात्मक एवं प्रयोगोन्मुख रूप देती है, तथापि दोनों का संयुक्त अध्ययन नाट्यकर्म को सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशासन प्रदान करता है।

नाट्य-मंचन की दृष्टि से इन दोनों ग्रन्थों का रस-सिद्धान्त यह संकेत देता है कि मंचीय योजना का निर्माण केवल दृश्य-सज्जा या बाह्य आकर्षण के आधार पर नहीं होना चाहिए, बल्कि उसका नियमन प्रधान रस की अपेक्षा से होना चाहिए। यदि नाट्य का प्रमुख रस करुण है, तो रंग-योजना, प्रकाश-विन्यास, मंच-रिक्ति, प्रवेश-प्रस्थान की गति, संगीत की ध्वनि और दृश्य-संयोजन सभी में मन्दता, गाम्भीर्य और भाव-संयम अपेक्षित होंगे। इसके विपरीत वीर रसप्रधान प्रस्तुति में विस्तार, ऊर्जा, उन्नत देहभाषा, तीव्र लय और प्रभावी दृश्य-गठन की आवश्यकता होगी। इस प्रकार रस न केवल नाट्य के अन्तर्भाव को निर्धारित करता है, बल्कि उसके दृश्य-विन्यास का भी नियामक तत्त्व बनता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' के लक्षणप्रधान संकेत और 'नाटकचन्द्रिका' की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति को साथ रखकर देखा जाए, तो स्पष्ट होता है कि रस-सिद्धान्त मंच-संरचना का मूल नीतितत्त्व है।

अभिनय के क्षेत्र में इन ग्रन्थों की उपयोगिता और अधिक प्रत्यक्ष है। रस की निष्पत्ति का सबसे प्रभावी माध्यम अभिनेता ही होता है, क्योंकि वही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को मंच पर जीवंत करता है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' यह स्पष्ट करता है कि अनुभाव आन्तरिक भाव की बाह्य अभिव्यक्ति हैं; अतः अभिनेता का कार्य केवल संवाद बोलना नहीं, बल्कि भाव की सुसंगत देहात्मक एवं वाचिक अभिव्यक्ति करना है। 'नाटकचन्द्रिका' इस बिन्दु को और अधिक व्यावहारिक रूप देती हुई प्रतीत होती है, क्योंकि वहाँ अभिनय को रस-प्रकाशन की सक्रिय प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनेता को प्रत्येक रस के अनुकूल आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य आयामों का पृथक् अभ्यास करना चाहिए। शृङ्गार में दृष्टि की कोमलता, वाणी की मधुरता और गति की लयात्मकता महत्त्वपूर्ण होगी; रौद्र में दृष्टि की तीक्ष्णता, मुखाभिव्यक्ति की उग्रता और स्वर की कठोरता अपेक्षित होगी; करुण में विराम, मृदुता और अन्तर्मुखी भाव-प्रवेश की आवश्यकता होगी। इस प्रकार रस-सिद्धान्त अभिनेता के लिए भावाभिनय का शास्त्रीय व्याकरण प्रस्तुत करता है।

संवाद-योजना के क्षेत्र में भी इन दोनों ग्रन्थों की मान्यताओं का अत्यन्त महत्त्व है। नाट्य में संवाद केवल कथानक को आगे बढ़ाने का साधन नहीं, बल्कि रस-निर्माण का प्रमुख उपकरण है। किसी भी पात्र की भाषा, वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन, मौन का उपयोग, कथन की गति और प्रत्युत्तर की संरचना—ये सभी तत्त्व रस की सिद्धि में सहायक होते हैं। यदि नाट्य में हास्य-रस की रचना करनी हो, तो संवादों में चातुर्य, वक्रोक्ति, सहजता और समयोचित प्रत्युत्पन्नमति अपेक्षित होगी। यदि करुण रस उत्पन्न करना हो, तो भाषा में संयम, मार्मिकता, विरलता और अनुभूति की गहनता आवश्यक होगी। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' से यह बोध प्राप्त होता है कि रस के अनुरूप तत्त्वों का चयन अनिवार्य है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' की प्रवृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि संवाद योजना में रसगत उपयुक्तता ही नाटकीय प्रभाव का आधार है। इस प्रकार संवाद-लेखन तथा मंच-निर्देशन दोनों में रस को केन्द्र में रखकर भाषा-योजना तैयार की जा सकती है।

पात्र-निर्माण की प्रक्रिया में भी रस-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। किसी नाटक में पात्र केवल कथात्मक इकाइयाँ नहीं होते; वे रस-विन्यास के वाहक होते हैं। आलम्बन विभाव के रूप में पात्रों की भूमिका रसोत्पत्ति में केन्द्रीय होती है, इसलिए उनकी मानसिक संरचना, व्यवहारगत प्रवृत्ति, वेशभूषा, भाषिक शैली और नाट्यगत उद्देश्य—सभी का निर्धारण अपेक्षित रस को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पात्र-निर्माण में स्थायीभाव की स्पष्टता आवश्यक है; क्योंकि यदि पात्र का मूल भावधर्म अस्पष्ट होगा, तो रस का परिपाक भी शिथिल होगा। 'नाटकचन्द्रिका' के व्याख्यात्मक आग्रह के आलोक में यह जोड़ा जा सकता है कि पात्र का विकास भी क्रमशः होना चाहिए, जिससे उसके भाव-विकास और रस-सम्बन्धी भूमिका में स्वाभाविकता आए। उदाहरणार्थ, वीररसप्रधान नायक में उत्साह, धैर्य, दायित्वबोध और निर्णय-क्षमता का सम्यक् संयोजन होना चाहिए; करुण-प्रसंग के पात्र में संवेदना, असहायता, स्मृति या विरह के तत्त्वों का क्रमिक विकास अपेक्षित होगा। इस प्रकार रस-सिद्धान्त पात्रों के निर्माण को केवल कथात्मक न रखकर सौन्दर्यात्मक और अनुभूतिपरक बना देता है।

दर्शक-अनुभूति की दृष्टि से इन दोनों ग्रन्थों का व्यावहारिक महत्त्व सबसे अधिक है। भारतीय नाट्यपरम्परा में नाटक का चरम लक्ष्य दर्शक में रसास्वादन की स्थिति उत्पन्न करना है। अतः मंचन, अभिनय, संवाद और पात्र-निर्माण की समस्त प्रक्रिया अन्ततः सहृदय की भावानुभूति की दिशा में नियोजित होती है। 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस को नाट्य का प्राणतत्त्व मानने का तात्पर्य यही है कि नाट्य की सफलता दर्शक के अन्तःकरण में भाव के सौन्दर्यात्मक रूपान्तरण पर निर्भर करती है। 'नाटकचन्द्रिका' की मंचोन्मुख दृष्टि से यह बात और स्पष्ट होती है कि दर्शकानुभूति आकस्मिक नहीं होती;

वह सूक्ष्म कलात्मक संयोजन का परिणाम है। जब विभावों का चयन उचित हो, अनुभावों की अभिव्यक्ति विश्वसनीय हो, संचारी भावों का संयोग स्वाभाविक हो और स्थायीभाव का परिपाक क्रमिक रूप से सम्पन्न हो, तभी दर्शक निजी संवेदना से ऊपर उठकर साधारणीकृत रस का आस्वाद करता है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त नाट्यकर्म को दर्शक-केन्द्रित संवेदनात्मक अनुशासन प्रदान करता है।

इन ग्रन्थों के व्यावहारिक प्रयोग का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष आधुनिक रंगकर्म में भी दृष्टिगोचर हो सकता है। आज के मंच पर निर्देशक, अभिनेता और नाट्यलेखक प्रायः मनोवैज्ञानिक यथार्थ, दृश्य-प्रयोग और संप्रेषणीयता पर बल देते हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त इन सभी को एक समेकित ढाँचा प्रदान कर सकता है। यदि कोई निर्देशक किसी नाटक का प्रधान रस निश्चित कर उसके अनुरूप प्रकाश, ध्वनि, दृश्य-संयोजन और अभिनय-गति निर्धारित करे, तो प्रस्तुति अधिक संगठित एवं प्रभावोत्पादक हो सकती है। यदि अभिनेता केवल चरित्र की बाह्य नकल न करके उसके स्थायीभाव को समझे, तो उसका अभिनय अधिक आन्तरिक और प्रामाणिक होगा। यदि नाट्य-लेखक संवादों की संरचना रसगत लक्ष्य के अनुसार करे, तो भाषिक प्रभाव अधिक सघन होगा। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ आधुनिक रंग-प्रशिक्षण में भी सिद्धान्त और व्यवहार के बीच सेतु का कार्य कर सकते हैं।

अतः 'नाटक लक्षणरत्नकोश' और 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त नाट्य-मंचन की योजना से लेकर अंतिम दर्शक-अनुभूति तक एक व्यापक व्यावहारिक उपयोगिता रखता है। ये ग्रन्थ यह सिखाते हैं कि नाट्य की सफलता तत्त्वों की मात्र उपस्थिति में नहीं, बल्कि उनके रसाभिमुख समन्वय में निहित है। मंचीय विन्यास, अभिनय-कौशल, संवाद-संरचना, पात्र-गठन तथा दर्शक-संवेदना—इन सभी का नियमन यदि रस-सिद्धान्त की दृष्टि से किया जाए, तो नाट्य अधिक प्रभावशाली, सुसंगत और कलात्मक बन सकता है। इसी कारण इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन केवल शास्त्रीय अनुसंधान के लिए ही नहीं, बल्कि जीवित रंगमंचीय परम्परा के लिए भी अत्यन्त उपयोगी और प्रासंगिक है।

9. निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध में 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन किया गया, जिसके माध्यम से भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा के एक महत्त्वपूर्ण किन्तु अपेक्षाकृत अल्प-चर्चित आयाम का उद्घाटन सम्भव हुआ। अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों ग्रन्थ भरतप्रणीत रस-परम्परा से अनुप्राणित होते हुए भी अपने प्रतिपादन की शैली, व्याख्यात्मक गाम्भीर्य तथा प्रयोगोन्मुख दृष्टि में भिन्न-भिन्न स्तरों पर विकसित हुए हैं।

सारतः यह निष्पन्न होता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' में रस-सिद्धान्त का स्वरूप संक्षिप्त, सूत्रात्मक एवं लक्षणप्रधान है, जहाँ रस के तत्त्वों का साररूप संकलन प्रस्तुत किया गया है। इसके विपरीत 'नाटकचन्द्रिका' में वही सिद्धान्त अधिक विस्तृत, स्पष्ट एवं व्याख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया, उसके अवयवों की कार्यप्रणाली तथा नाट्यगत प्रयोग का अधिक सजीव एवं क्रमबद्ध निरूपण प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि भारतीय नाट्यशास्त्रीय चिन्तन केवल स्थिर प्रतिमानों का अनुकरण नहीं करता, अपितु निरन्तर पुनर्व्याख्या एवं पुनर्परिनियोजन की प्रक्रिया के माध्यम से विकसित होता है।

समानताओं के स्तर पर दोनों ग्रन्थों में रस को नाट्य का प्राणतत्त्व मानने, विभाव–अनुभाव–व्यभिचारी भावों के समन्वय से उसकी निष्पत्ति स्वीकार करने, तथा नाट्य के समस्त तत्त्वों को रसाभिमुख मानने की एकरूपता स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई। इसके विपरीत भिन्नताओं के स्तर पर यह देखा गया कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' का आग्रह तत्त्व-निर्धारण एवं संहितात्मक प्रस्तुति पर अधिक है, जबकि 'नाटकचन्द्रिका' का बल व्याख्या, स्पष्टता एवं व्यवहारिक अनुप्रयोग पर केन्द्रित है। इसी प्रकार नाट्यगत प्रयोग, अभिनय, संवाद-योजना तथा दर्शकानुभूति के सन्दर्भ में 'नाटकचन्द्रिका' अधिक प्रत्यक्ष मार्गदर्शक रूप में उभरकर सामने आती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि रस-सिद्धान्त नाट्य-मंचन, अभिनय-कौशल, संवाद-निर्माण एवं पात्र-विन्यास के लिए एक समन्वित सौन्दर्यशास्त्रीय आधार प्रदान करता है। यदि नाट्य के समस्त तत्त्वों का नियमन किसी विशिष्ट रस की दृष्टि से किया जाए, तो प्रस्तुति अधिक प्रभावोत्पादक एवं सुसंगत बन सकती है। इस

प्रकार यह सिद्ध होता है कि रस-सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक विमर्श का विषय न होकर जीवित नाट्य-परम्परा का आधारभूत उपकरण है।

इस शोध की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि इसके माध्यम से 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' जैसे अपेक्षाकृत कम चर्चित ग्रन्थों की प्रासंगिकता पुनः स्थापित होती है। ये ग्रन्थ न केवल नाट्यशास्त्रीय परम्परा की निरन्तरता के साक्ष्य हैं, बल्कि वे यह भी संकेत करते हैं कि उत्तरवर्ती काल में रस-सिद्धान्त का किस प्रकार पुनर्संयोजन एवं पुनर्परिभाषण हुआ। इस प्रकार यह अध्ययन भारतीय काव्यशास्त्र की व्यापक समझ को समृद्ध करने में सहायक सिद्ध होता है।

आगे के अनुसंधान की दृष्टि से भी यह विषय अनेक संभावनाएँ प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, इन ग्रन्थों में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों—जैसे *दशरूपक, साहित्यदर्पण* अथवा क्षेत्रीय नाट्य-परम्पराओं—के सन्दर्भ में किया जा सकता है। इसी प्रकार आधुनिक रंगमंच, चलचित्र एवं प्रदर्शन-कला में रस-सिद्धान्त के अनुप्रयोग की सम्भावनाओं का भी विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। साथ ही, दर्शक-मनशास्त्र एवं सौन्दर्यानुभूति के समकालीन सिद्धान्तों के साथ रस की अवधारणा का संवाद स्थापित करना भी एक महत्त्वपूर्ण शोध-दिशा हो सकती है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि 'नाटक लक्षणरत्नकोश' एवं 'नाटकचन्द्रिका' में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त भारतीय नाट्यशास्त्र की गहनता, विविधता एवं जीवंतता का सशक्त प्रमाण है। इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन न केवल परम्परा की अन्तर्धाराओं को उद्घाटित करता है, बल्कि नाट्य के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को एक समन्वित दृष्टि में देखने की प्रेरणा भी प्रदान करता है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध भारतीय नाट्यशास्त्रीय विमर्श को एक सुसंगत एवं समृद्ध परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

10. संदर्भ सूची

1. सागरनन्दी. **नाटकलक्षणरत्नकोश**. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, 1972.
2. रूपगोस्वामी. **नाटकमन्द्रिका / Nāṭakacandrikā**. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, 1964.
3. भरतमुनि. **नाट्यशास्त्र**. संपा./अनु. मनोमोहन घोष. कलकत्ता: Manisha Granthalaya, 1967.
4. अभिनवगुप्त. **अभिनवभारती** (भरत के *नाट्यशास्त्र* पर टीका). संपा. पारसनाथ द्विवेदी. वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय.
5. धनञ्जय. **दशरूपक**. संपा. K. P. Parab. बम्बई: Nirnaya Sagar Press, 1941.
6. मम्मट. **काव्यप्रकाश**. (उपयुक्त संस्कृत/हिन्दी टीकासहित संस्करण). दिल्ली: भारतीय विद्या प्रकाशन, 2020.
7. विश्वनाथ कविराज. **साहित्यदर्पण**. वाराणसी/दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1994 या 2009 के प्रचलित संस्करण.
8. आनन्दवर्धन. **ध्वन्यालोक**. संपा.-अनु. K. Krishnamoorthy / Jagannath Pathak. धारवाड़ / वाराणसी: 1974 / 1965.
9. जगन्नाथ पण्डितराज. **रसगंगाधर**. वाराणसी: Banaras Hindu University, 1963.
10. भोजराज. **शृङ्गारप्रकाश**. संपा. वेंकटराम राघवन. 1940, 1958, 1963 के विभिन्न संस्करण उपयोगी हैं.